RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-03
March-2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com[UGC Listed Journal]

भारतीय समाज में दलित बचपन

सीमा

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

ARTICLE DETAILS

Article History
Published Online: 13 March2019

ABSTRACT

दलित आत्मकथाएँ भारतीय समाज में वर्ण और जाति की विभीषिकाओं का आईना है। हिन्दी में जितनी भी आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई हैं, उन्हें पढ़कर एक बात तो साफ तौर पर कही जा सकती है कि भारतीय समाज में सवर्णों ने दलितों को पूर्ण रूप से अपंग बनाने के तमाम उपाय किए हुए हैं, परन्तु संघर्ष की लम्बी परम्परा का सहारा पाकर दलितों ने अपने आदमी होने को सिद्ध किया है। संत रैदास, कबीर, ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की चेतना का धीरे–धीरे दलितों में प्रवाह हो रहा है। डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक आन्दोलन में अवतरण और आजादी के बाद यह प्रवाह तीव्र गति से प्रसार पा रहा है। दलित साहित्यकारों ने अपने बचपन में हुए अनुभवों को उकेरा है। साहित्य के माध्यम से आज वो सब पढ़ लिखकर अपने आने वाली पीढ़ियों को शिक्षा के प्रति जागरूक कर रहे हैं।

बचपन मनुष्य के जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। विद्वानों ने चौदह वर्ष तक की उम्र बचपन के लिए निर्धारित की है। सामाजिक व्यवहार ही इस उम्र में उसका सबसे बड़ा स्कूल होता है। वह अपने जीवन की दिशा सामाजिक व्यवहार के द्वारा ही तय करता हैं उसके भावी जीवन को तय करने वाला परिवेश यही होता है। जैसा सांचा वैसी मूर्ति। दलितों की जीवन शैली को देखकर उसके सांचे का अंदाजा लगाना कोई मुश्किल काम नहीं है। सभी जगह अनपढ़ता, तिरस्कार और व्यवस्था की लताड़ का आलम एक ही है। 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में जिस बचपन के साथ गुजरा, वही बचपन मुझे 'तिरस्कृत', 'अपने–अपने पिंजरे', 'मुर्दहियां', 'झोंपड़ी से राजभवन', 'एक भंगी कुलपति की अनकही कहानी' तथा 'शिकंजे का दर्द' में भी देखने को मिलता है। लगा कि सभी का जुझारूपन एक–सा है। इन्हीं स्थितियों ने मुझे बचपन की याद दिलाई। भारतीय समाज में सदियों से वर्ण, जाति, धर्म आदि में विभाजित होता आया है। वर्ण और जाति का जैसा घिनौना रूप भारतीय समाज में प्रचलित है, वैसा विश्व में कहीं भी विद्यमान नहीं है। जाति आधारित शोषण काले–गोरे के भेदभाव तथा आर्थिक आधार एवं अन्य प्रकार के दूसरे शोषणों से अधिक मार्मिक, तीखा और टीस भरा है। इसके बारे में वही बता सकता है जिसने इस दंश को झेला है। ज्योतिबा फुले का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, कि गुलामी की यातना "जो सहता है वही जानता है" और जो जानता है वही पूरा सच कह सता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नहीं।"[1]

बालक मोहनदास का बचपन भी कट्टर जातिवादी माहौल में गुजरा। उनकी बस्ती को तो सवर्णों ने 'चमार दरवज्जा' नाम ही रखा हुआ था। मतलब, चमार दरवज्जे में रहने वाले तमाम प्राणी घृणा और उपहास के पात्र हों। "हमारी बस्ती भी शहर की अन्य बस्तियों की तरह थी। बस्ती का नाम चमार गेट था फिर चमार दरवज्जा हुआ जिसे लोग चमार दरवज्जा ही अधिक कहते बोलते थे।"[2]

अंधविश्वास के झरोखों से ताकता दलित बचपन

अंधविश्वास शब्द दो शब्दों के मेल से बना है – अंध और विश्वास। अंध शब्द अदेखा का पर्याय है। बिना देखे विश्वास कर लेना अंधविश्वास कहलाता है। अंध शब्द अंधा से बना है। अंधा व्यक्ति दूसरों के बताए मार्ग पर निर्भर रहता है। इसलिए जो व्यक्ति दूसरों के बताए रास्ते का अनुकरण करते हैं उन्हें अंधविश्वासी कहा जाता है। विज्ञान में मास्टर डिग्री या पीएच.डी. प्राप्त लोगों तक को अंधविश्वास में फंसते पाया गया है। आज अनेक पाखण्डी बाबा धार्मिकता के नाम पर व्यक्ति के इसी अंधविश्वास के बल पर उन्हें लूट रहे हैं। अंधविश्वास भोली–भाली, अनपढ जनता को ठगने का धूर्त लोगों द्वारा फैलाया गया ऐसा जाल है, जिसमें जनता फंसकर ऐसी मदांध हो जाती है, कि धूर्त उसे ठगते रहते है और उसे ठगे जाने में ही आनन्द आने लगता है। अंधविश्वास और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का द्वंद्व हजारों सालों से चला आ रहा है। मक्खलि गोसाल से लेकर कबीर, रैदास, ज्योतिबा फुले, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने लिखा है, "पुरोहित ही वह शरारती दिमाग था, जिसने इतने अंधविश्वास को जन्म दिया।"[3] तुलसीराम की 'मुर्दहिया' आत्मकथा में अनेक अंधविश्वास भरे पड़े हैं। तुलसी का तो जन्म ही अंधविश्वासों में होता है। बालक तुलसी के पैदा होने से पहले कई बच्चे पैदा हो होकर मर गए थे। माँ–बाप को यह डर था कि उनके परिवार पर किसी भूत–प्रेत का साया है। इसी तरह 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा के बालक श्यौराज का बचपन तो अंध–विश्वास की भेंट ही चढ़ गया। परिवार का एकमात्र कमाऊ व्यक्ति राधेश्याम अपनी बहन की ससुराल उसकी ननद के विवाह में गया था। वहाँ कुछ अखाद्य पदार्थ खाने के कारण बीमार पड़ गया वहां बीमारी की हालत में किसी डॉक्टर से न दिखाकर सयाने और झाड़–फूंक के चक्कर में फंस गए और परिणामतः राधेश्याम को अपनी जान गंवानी पड़ी। "लोगों में गहरी अज्ञानता, अशिक्षा और अंधविश्वास का होना था। ज्यादातर स्त्री–पुरुषों का कहना था कि रात को बारह बजे राधे ने घेर के सामने चौराहे पर पेशाब कर दिया था, इस कारण चौराहे वाली चुड़ैल ने उसे घेर लिया।"[4]

RRIJM 2015, All Rights Reserved

सवर्ण अध्यापक का शिकार दलित बचपन

देश को बनाने में शिक्षक की अहम भूमिका होती है। शिक्षक किसी भी देश का सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक वाहक है। देश अगर गर्त में जा रहा है, तो उस भूमिका को भी वह नकार नहीं सकता। वह राष्ट्र का निर्माता है इसलिए 'राष्ट्र निर्माता' कहावत उसके लिए रूढ़ हो गई है। भारतीय समाज में आज भी हजारों साल पुरानी वर्ण, जाति की संकीर्णता व्याप्त है। ये जातियाँ एवं वर्ण अपने–अपने खोल में सिमटे–परस्पर अपरिचितों का–सा व्यवहार करते हुए निर्वाह को बाध्य है। देश की आजादी के इतने वर्षों के बाद भी इस जाति की संकीर्णता को नहीं पाटा गया।

शिक्षक देश के भावी नागरिक तैयार करता है। नागरिकों से देश बनता है। इसलिए विश्व के समाजों में शिक्षक को सबसे महत्त्वपूर्ण दर्जा दिया गया है। कबीरदास ने तो इसे ईश्वर से भी बढ़कर माना है। कबीर ने 'सतगुरू की महिमा अनंत'[5] कहकर उसके महत्त्व को अत्यधिक महिमा मंडित किया हैं लेकिन आज समाज में शिक्षक जाति तक सिमट कर रह गया है। जाति आधार पर शिक्षा का क्षेत्र भी अछूता नहीं रहा। डॉ. रमाशंकर आर्य का अनुभव दर्शनीय है, "सभी शिक्षक सवर्ण जाति के थे। एक–दो शिक्षकों में सैलाबी, जातीय अहंकार था। पिछड़े और दलित छात्रों के प्रति दुर्भावनाग्रस्त। ऊपर से उदार मगर अंदर से खूंखार। एक सवर्ण शिक्षक की मार और गालियों की बौछार को शायद ही कोई दलित पिछड़ा छात्र आज भी भूल पाया होगा। दलित छात्रों में हीन भाव का बोध कराने में ही वह शिक्षक अपने शिक्षण पेशा को सार्थक मानता था।"[6] डी.आर. जाटव अपना कड़वा अनुभव बताते हुए लिखते हैं कि ब्राह्मण शिक्षक उसे कठोर से कठोर सजा दिया करता था। "मैं उनके व्यवहार से सदैव सावधान रहता था। जातिगत भावनाएं सब में व्याप्त थीं। मुझे स्कूल में अजीब–सा लगता था। कक्षा में एक कोने की ओर बैठने की जगह मिलती, लगभग सबसे अलग। अपनी जाति के हम चार–पांच लड़के, कपड़ों से सामान्य और स्वभाव से संकोची थे, केवल शिक्षकों के सिवाय किसी से नहीं डरते थे। सभी शिक्षक उच्च जाति के थे। एक ब्राह्मण शिक्षक बड़ा ही क्रूर था, वह हमें बबूल या नीम की टहनी से पीटा करता, कभी–कभी मुर्गा भी बनाता था, जो दण्ड का सबसे घटिया तथा कष्टदायक तरीका था। हम पढने–लिखने में कमजोर नहीं थे, पर जातिगत मानसिकता ने उस ब्राह्मण शिक्षक को असंतुलित कर रखा था। यह उस समाज में स्वाभाविक ही था जहां सभी चीजें जाति व्यवस्था से संचालित होती हों। विचार एवं व्यवहार भी उसी से उगते हों।"[7]

अध्यापक जाति के नाम से बुलाते थे। अपने शौचालय का लोटा पिछड़ी जाति के लड़कों से धुलवाते थे। "दलित छात्रों को नाम से नहीं, जाति से पुकारते। ऐकार मारना, तुम–ताम करना अपनी जनमौती के साथ ही लेकर आये थे। इन दोनों के चेहरे पर शायद ही कभी मुस्कान देखी होगी। इनके दांत तभी दिखाई देते जब क्रोध में गाली बकने के लिए अपना मुँह खोलते। चौबीस घंटे भृकुटियाँ तनी रहतीं। जब–जब भी शौचालय जाते, शौच का लोटा पिछड़ी जाति के लड़कों से मँजवाते।"[8]

विद्यालयी परिवेश और निष्कासन

विद्यालय किसी भी व्यक्ति के जीवन में उसके जीवन को सुखमय तरीके से जीना सिखाने का एक माध्यम है। विद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर मनुष्य अपने जीवन को व्यवस्थित ढंग से जीना सीखता है। हजारों सालों से दलित बालक विद्यालयों से बाहर रहे। विशेष रूप से आजादी के आंदोलन के दौरान समाज सुधार कार्यक्रमों के द्वारा यह महसू किया गया कि भारत का एक–एक नागरिक शिक्षित होना चाहिए। द्विज व्यवस्था में गुरूकुलों में शुद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं था। उन्हें गुरूकुल खोलकर अपने बालकों को शिक्षित करने का अधिकार नहीं था। एकलव्य और शम्बूक के साथ जो हुआ सबको मालूम है। एक शिक्षा लेना चाहता था। उसका अंगूठा काट लिया गया, दूसरा शिक्षा देना चाहता था, उसकी गर्दन काटकर मौत के घाट उतार दिया गया। शिक्षा के क्षेत्र में सवर्णों के आदर्श उनके गुरू द्रोणाचार्य शासक राजा राम ही रहे हैं। बालक की दुविधा एक नहीं है। वह एक साथ अनेक समस्याओं से जूझ रहा है। उसे अपने जीवन में सुधार का एकमात्र रास्ता स्कूल ही दिख रहा है। स्कूल में उसे अपने साथ होने वाले जाति–पाति का दुर्व्यव्हार भी दिख रहा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के पिता अपनी जात सुधारने के नाम पर उसका स्कूल में नाम लिखाते हैं। परन्तु स्कूल का हैडमास्टर कलीराम पूर्णतः जातीय दंभ से भरा हुआ था। वह बालक ओमप्रकाश से पहले ही दिन कहता है, "ठीक है... वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियां तोड़ कै झाड़ू बणा ले। पत्तों वाली झाड़ू बनाणा। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो ये खानदानी काम है ना.... फटाफट लग जा काम पे।"[9]

दलित लड़कियों के लिए तो वहां वातवरण और भी भयावह होता। 'शिकंजे का दर्द' में सुशीला टाकभौरे ने अपने विद्यालयी जीवन के ऐसे दर्द उकेरे हैं, जिन्हें पढ़कर उनके साहस और सहनशीलता की दाद देनी पड़ेगी। एक गरीब, फिर भंगी और फिर लड़की। सुशीला को भी विद्यालय में कई रूपों में भेदभाव का सामना करना पड़ा। उन्हें इस बात का पक्का मलाल है कि स्कूल में उनकी कोई पक्की सहेली नहीं बन पाई।

"गरीबी अभाव का ऐसा कष्ट उठाने के साथ–साथ जातिभेद के अपमान की व्यथा भी मिलती रही। स्कूल में पढ़ते समय कोई लड़की मेरी पक्की सहेली नहीं बनी। लड़कियों से पढ़ाई संबंधी बातें करना और किताब, कापी लेने–देने का ही वास्ता रहा। जाति भेद की दूरी ने कभी किसी को दिल के नजदीक नहीं आने दिया। कक्षा पांचवी में मेरे साथ कमला, पासी और पार्वती पारधी पढ़ती थी। वे स्कूल मे मेरे नजदीक रहकर बातें करती थी, उनके घर जाने पर दूर से बात करती थी। मैं उनके घर के अन्दर नहीं जा सकती थी। वे भी एस. सी. थी मगर मेरी जाति उनसे भी निम्न थी। ऊँच–नीच के भेदभाव के कारण मैत्रीभाव का पनपना मुश्किल था।"[10]

माता प्रसाद लिखते हैं, "एक दिन मैं अपने रास्ते से जा रहा था, वह रास्ता अरूवांवा की दलित बस्ती से जाता था। उस बस्ती के आगे अपने खेत में एक ब्राह्मण काम कर रहा था। मुझे देखकर बिना किसी कारण के गाली देने लगा। मैं

कुछ बोला नहीं। एकांत था मैंने सोचा कि यदि कुछ बोलता हूँ तो यह मेरी पिटाई भी कर देगा। कोई यहाँ सुनने वाला नहीं है। मैं चुपचाप चला गया। उस ब्राह्मण को लगा कि मैं ब्राह्मण होकर खेत में काम कर रहा हूँ और यह चमार होकर पढ़ाने जा रहा है। इसी हीनता के कारण उसने मुझे गाली दी। बाद में मैंने उक्त रास्ता छोड़कर सड़क से जाने–आने लगा।"[11]

सामाजिक कुरीतियों के बीच पलता दलित बचपन

हिन्दू की समाज व्यवस्था पूर्ण रूप से वर्ण और जाति पर निर्भर व्यवस्था है। वर्ण और जाति से उत्पन्न और भी अनेक कुरीतियां है जिनका भुक्तभोगी दलित समाज को बनना पड़ता है। असल में समाज में जितनी भी कुरीतियां हैं, उनका सबसे बड़ा भोगी सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े दलित समाज को ही बनना पड़ता है। सवर्ण की देखा–देखी दलित समाज में भी पितृसत्ता का खुला खेल चलता है। हिन्दी में दो महिला आत्मकथाकारों की आत्मकथाएं आई है 'दोहरा अभिशाप' और शिकंजे का दर्द' जिनमें क्रमशः कौशल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे की सूक्ष्मानुभूति के आधार पर निष्कर्ष निकलता है। कि उन्होंने इस पितृ–सत्ता की दरिंदगी को महसूस किया है। अकसर लड़कियां विभिन्न रूपों में इस लड़की लड़के के भेद को महसूस किया करती है। "समाज में बेटियों की अपेक्षा बेटों को अधिक सम्मान और महत्त्व दिया जाता था। जिन लड़कियों के भाई नहीं रहते थे, परिवार के लोग और रिश्तेदार उन्हें बुरा कहते थे वे बहुत दुःखी हो जाती थी। जिस माँ का बेटा नहीं होता वह तो मानों अपने आपको दुनियां की सबसे दुखी अभागी स्त्री मानती। बेटों का महत्त्व था। बेटे के लिए अनेक व्रत रखे जाते, पूजा की जाती, मन्नते मांगी जाती। चाहे जितनी बेटियां हो जायें, बेटा होना ही चाहिए। बेटा होने पर ही उनके मातृत्व को महत्त्व मिलता था। सामाजिक धार्मिक धारणा थी – "बेटा नहीं होगा तो मरने पर मुँह में पानी कौन डालेगा? मरने पर अग्नि कौन देगा? पितरों को पानी कौन देगा? बेटा नहीं होगा तो मुक्ति कैसे मिलेगी?"[12] दलित समाज में बाल–विवाह की समस्या अनेक समस्याओं का कारण बनती है। बचपन में ही विवाह बंधन में बांध दिए जाने के कारण एक व्यक्ति सारी उम्र पराश्रित होकर रह जाता है। असल में बाल विवाह एक मानसिक दबाव के कारण दलितों में प्रचलित हुआ।

नामों का समाज–शास्त्र

हिन्दू व्यवस्था में दलितों को अपमानित करने के प्रकारों में एक प्रकार यह भी है, कि उन्हें घृणित और तिरस्कृत नामों से पुकारा जाए। उनके धर्मग्रन्थ 'मनुस्मृति' में बाकायदा यह व्यवस्था की गई है कि ब्राह्मण का नाम मंगल सूचक, क्षत्रिय का नाम बल सूचक, वैश्य का नाम धनवाचक और शूद्र का नाम निंदनीय हो उनके प्रति घृणा पैदा करने वाला हो। श्यौराज सिंह बेचैन ब्राह्मणों के इस षड्यंत्र को भलीभांति समझ रहे हैं – "व्यक्तियों और जातियों के नामों के पीछे जो सम्मान और हिकारत का भाव होता है। वह मैं बाद में समझ पाया। ब्राह्मणों ने क्यों मेरे गाँव के चमारों के नाम दुर्जना, खचेरू, खूबा, दुंडा और घुरऊ वगैरह रखे और क्यों यादवों ने भी अच्छे–खासे नामों – बिधाराम की बीधा, गंगाराम को गंगी, राधेश्याम को रघुआ, सौराज को शौरा करके विकत कर दिया।"[13]

निष्कर्ष

दलित समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों ने भी इन बालकों के मार्ग में अनेक रोड़े अटकाये। ब्राह्मण इन्हें तिरस्कार–सूचक नामों से महिमा–मंडित करते। नशे का बहुतायत प्रचलन बचपन में ही इनकी आदतों को खराब कर डालता। दलितों द्वारा किए जाने वाले काम उनके बालकों में हीन भावना पैदा करते हैं। विशेष रूप से चमारों द्वारा किया जाने वाला मृत मवेशियों की खाल उतारने और भंगियों द्वारा सफाई का काम तथा कथितों ने घृणित करार दे दिये। दलित आत्मकथाओं में बचपन की स्थिति को जानने के प्रयास में एक बात तो निकल कर साफ सामने आती है कि हर बालक अपने अंदर एक धधकती चिंगारी लेकर पैदा होता हैं स्वार्थी और यथास्थितिवादी उस धधकती चिंगारी को जाति, वर्ण, तिरस्कार आदि के माध्यम से मंद करने या बुझाने का प्रयास करते हैं। दलित बालकों के साथ समता के साथप्रस्तुत होकर उसके स्वाभिमान को देश की अनुपम धरोहर मानकर उसकी रक्षा करने वाले लोग निश्चित रूप से देश के सच्चे सपूत हैं।

संदर्भ सूची

1. दलित चेतना, डॉ. मैनेजर पाण्डेय से अनूप शुक्ल की बातचीत, पृ. 5
2. अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, मोहनदास नैमिशराय, पृ. 17
3. भगवान बुद्ध और उनका धम्म, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, पृ. 198
4. मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 16
5. कबीर ग्रंथावली, सं. श्याम सुन्दर दास, पृ. 1
6. घुटन, रमाशंकर आर्य, पृष्ठ 32
7. मेरा सफर मेरी मंजिल, डी. आर. जाटव, पृ. 11–12
8. घुटन, रमाशंकर आर्य, पृ. 31
9. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 15
10. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, पृ. 104
11. झोपड़ी से राज भवन, माता प्रसाद, पृ. 62
12. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, पृ. 38
13. मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, डॉ. श्यौराजसिंह बेचैन, पृ. 225

RRIJM 2015, All Rights Reserved